सन्मार्ग प्रेरणा सुमन

ओम कपूर एवं शमशेर खान

सन्मार्ग प्रेरणा सुमन

ओम कपूर एवं शमशेर खान

द्वितीय संस्करण : 300 प्रतियां

संकलनः

ओम कपूर एवं शमशेर खान

सहयोगः

संगत समतावाद ट्रस्ट (रजि.), हरिद्वार

हर वक़्त अधिक उत्साह
और सत् यत्न की ज़रूरत
है, क्योंकि मार्ग (सत् मार्ग)
बड़ा कठिन है। अधिक
श्रद्धावान ही इस मार्ग में
कामयाब हो सकता है,
जिसको गुरु वचन पर पूर्ण
विश्वास होवे।

– ग्रन्थ श्री समता विलास

निवेदन :-

सन्मार्ग के प्रबुद्ध पथिक के चरणों में यह 'प्रेरणा-सुमन' सस्नेह सादर अर्पित है।

श्री सत्गुरुदेव - सर्वज्ञ प्रभु, सत् ज्ञान वर्धन में हम सबका मार्ग-दर्शन करते हुए सहाई होवें।

पथिक अवलोकन करे, सोचे और कुछ प्रेरणा ले सके तो यह सत्कार्य सफलीभूत होगा।

हमारे ऊपर उसकी कृपालुता होगी।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥ १॥

सब सुखी हों, सब आरोग्यवान हों,

सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न हो ॥ १॥

दुर्जनः सज्जनो भूयात्, सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।

बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान विमोचयेत् ॥ २॥

दुर्जन सज्जन हो जावें, सज्जन शान्ति प्राप्त करें,

शान्त बन्धन से मुक्त हों और मुक्त दूसरों को मुक्त करें ॥ २॥

ॐ तत् सत्

आँखें फूटने से हम अंधे नहीं होते
असल में अन्धा वह है जो अपने दोषों को ढकता है।

यकीन रखो कि तुम्हारा सच्चा मित्र वही है
जो तुम्हारी कमियों को एकान्त में दर्शाता है।

खुशामद (झूठी प्रशंसा) एक खोटा सिक्का है। इसे
वही काम में लाते हैं जिनके मन में खोट होता है।

दूसरों के मुख से बुराई सुनकर सहन करने वाला ही
महान तपस्वी है।

दिव्य-संवाद

कुरुक्षेत्र का मैदान —
कौरव व पाण्डव अपनी-अपनी सेनाऐं
लेकर युद्ध के लिए जमा होते हैं।
श्रीकृष्ण व अर्जुन का वार्तालाप —

श्रीकृष्ण : **क्या देख रहे हो, पार्थ?**

अर्जुन : **पिता-तुल्य-जनों, पितामहों, आचार्यों, पुत्रों और मित्रों को देख रहा हूं केशव !**

श्रीकृष्ण : **इन्हें देखना क्या है पार्थ?**
तुम इन्हें पहली बार तो नहीं देख रहे हो?

अर्जुन : **हाँ, पहली बार तो नहीं देख रहा हूं.....।**

श्रीकृष्ण : **और ..... तुम यह भी जानते थे कि ये सारे सगे-सम्बन्धी रण-भूमि में किसी न किसी ओर खड़े अवश्य दिखाई देंगे।**

अर्जुन : (विस्मयपूर्वक)
तो क्या जानने में और देखने में कोई अन्तर नहीं है, केशव?
हे माधव! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच ले चलिए ताकि मेरा परिवेश ठीक रहे।
मैं दोनों सेनाओं को बराबर की दूरी से देखना चाहता हूं।
मुझे ले चलिए ..... वहाँ।

श्रीकृष्ण : **ले चलता हूं, पार्थ! ले चलता हूं!!**
परन्तु, हे कुन्ती-पुत्र!
यह बात तुमने शंख बजने से पहले क्यों नहीं कही?

अर्जुन : **शंख बजने के उपरान्त अब युद्ध के विषय में कोई सन्देह नहीं रह गया ..... केशव!**
कोई सन्देह नहीं ..... रह ..... गया!

इसके बाद श्रीकृष्ण, अर्जुन का रथ दोनों सेनाओं के बीच लाकर खड़ा कर देते हैं और अर्जुन को सम्बोधित करते हैं —

श्रीकृष्ण : **लो ..... पार्थ! रणभूमि का मध्य तो आ गया।**

अर्जुन : (विस्मयपूर्वक)
ये दो सेनाएें नहीं हैं .... केशव!
ये तो दो सागर हैं!!

अर्जुन को अपने पितामह और गुरु द्रोण के साथ बिताए हुए बचपन के संस्मरण एक के बाद एक क्रम में याद आने लगे और वह उद्विग्न हो गया।
श्रीकृष्ण कुछ क्षणों तक अर्जुन की यह दशा देखते रहते हैं।

श्रीकृष्ण : **इन्हें कब तक देखते रहोगे, पार्थ?**

अर्जुन : **देख लेने दीजिए, केशव! देख लेने दीजिए!!**
क्या पता,

युद्ध के उपरान्त इनमें से कौन देखने को मिलेगा और कौन नहीं।
माधव! मैं किन लोगों से युद्ध करने आया हूँ .....
और इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए .....
मैं किन लोगों के प्राण दांव पर लगा रहा हूं?
दोनों ही ओर तो एक ही वंश के लोग खड़े हैं।
एक ही वृक्ष की टहनियाँ!
वे जो सामने श्वेत वस्त्र पहने श्वेत रथ पर सवार खड़े हैं वे संसार के लिए तो ..... गंगा - पुत्र देवव्रत भीष्म होंगे, मेरे लिए ..... तो ..... वे .....
श्वेत गंगा हैं!!!
मैं अपने मैले और धूल में सने वस्त्र पहन कर उनकी श्वेत गोद में छिप जाया करता था।
वे मुझे अपने हृदय से लगा लिया करते थे .....
वे मेरे पितामह हैं, केशव!!
दूसरी तरफ मेरे गुरु द्रोण हैं,

जिन्होंने मेरी आत्मा को नहला दिया है
..... ज्ञान से और इस शिष्य की झोली
में .....
अपना सारा ज्ञान उडेल दिया।
उन्होंने वह ज्ञान तो अपने पुत्र अश्वत्थामा
को भी नहीं दिया।
बाण व गाण्डीव पकड़ने वाले मेरे ये
हाथ .....
शून्न होते ..... जा ..... रहे हैं!!
मेरे शरीर में वह कम्पन है
जो मैंने शिशिर ऋतु में भी अनुभव नहीं
किया था, केशव!!!
मेरे शरीर के रोंगटे खड़े हो गए हैं!
मैं इस कुरुक्षेत्र की रणभूमि को —
अपने ही वंश की श्मशान भूमि नहीं
बना सकता, केशव!
नहीं बना सकता, केशव!!
आप कुछ बोलते क्यों नहीं, केशव!!!

श्रीकृष्ण : अभी तो मैं सुन रहा हूं न, पार्थ!
पहले तुम कह लो।

अर्जुन : अब कहने को क्या बचा है, केशव!

कहने को क्या बचा है, केशव!!
मैं इस राज्य का क्या करूंगा,
जिसमें भरत वंश के लहू की महक आ रही हो
जिन गुरुजनों के चरणों पर सिर रखा हो,
उन्हीं के सिर काट दूँ!!!
जिनसे मैंने धनुष पर बाण चढ़ाना सीखा,
क्या उन्हीं पर बाण चलाऊं, केशव??
मुझे इन मूल्यों पर विजय नहीं चाहिए, केशव!!
पृथ्वी का राज्य तो फिर भी प्राप्त किया जा सकता है,
मुझे इन मूल्यों पर त्रिलोक का राज्य भी नहीं चाहिए!!
यदि सब कुछ खोकर भी मुझे शान्ति मिले और मैं कुल के नाश के पाप से बचूं तो यह शान्ति बहुत सस्ती है, केशव!
बहुत सस्ती है, केशव!!

अर्जुन की इस स्थिति को समझकर श्रीकृष्ण सावधान होकर अर्जुन को सम्बोधित करते हैं।

श्रीकृष्ण : **मेरा नाम लेकर मुझे पुकारने से पहले—**
यह बतलाओ, पार्थ,
कि इस समय जब विनाश के बादल—
चारों ओर से उमड़ आए हैं
और धर्म .....
रक्षा और विजय की आस लेकर तुम्हारी
ओर देख रहा है,
इस संकट की घड़ी में,
इन कायरता के हीन-भावों को तुमने
अपने हृदय में आने कैसे दिया? .....
श्रेष्ठ पुरुष तो यों विषाद में डूबा नहीं
करते, पार्थ!
.....धर्म और अधर्म के बीच की —
इस निर्णायक घड़ी में नपुंसक न बनो,
पार्थ!
नपुंसक न बनो!!
हे परन्तप!
हे शत्रु संहारक!!
हे धनञ्जय!!!
तुम्हारे ये भाव सर्वथा अनार्य हैं।
ये तुम्हें स्वर्ग से गिरा देंगे
और कीर्ति से भी।
तुम स्वयं ही,

अपने तिरस्कार का कारण बनकर रह जाओगे।
हे पार्थ!
अपनी इस कमजोरी को त्यागो
और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ!!

अर्जुन : कैसे खड़ा हो जाऊं, केशव?
अपने इन गुरुजनों पर प्रहार करने के लिए कैसे खड़ा हो जाऊं?
जो मेरे पूज्यजन हैं
उनसे युद्ध कैसे करूं?
जिन महापुरुषों ने मुझे शस्त्र चलाना सिखाया, उन्हें पराजित करने के लिए कैसे खड़ा हो जाऊं, केशव?
इन महापुरुषों पर हाथ उठाने से तो कहीं अच्छा है कि मैं ये हाथ भिक्षा के लिए फैलाऊं।
भिक्षा में मिली हुई रोटी —
इन महापुरुषों के रक्त से सनी हुई नहीं होगी।
इन महापुरुषों के लहू से सनी पृथ्वी मुझे नहीं चाहिए।
हे हृषिकेश!

मैं तो यह भी समझ नहीं पा रहा हूं —
कि इस युद्ध में विजय श्रेष्ठ है
या पराजय?
धृतराष्ट्र-पुत्र शत्रुओं के समान मेरे सामने खड़े हैं
और मैं यह भी जानता हूं —
कि उनका वध किए बिना जीना सम्भव नहीं,
किन्तु ..... हे केशव!!
उनका वध करने के उपरान्त .....
जीना सम्भव नहीं होगा।
क्या वे मेरे भाई नहीं हैं, केशव?
बोलिए केशव!!

श्रीकृष्ण : **अवश्य हैं।**

अर्जुन : **बस .....केवल इतनी ही बात है?**

श्रीकृष्ण समझाते हुए अर्जुन की शंका का समाधान करते हैं।

श्रीकृष्ण : **तुमने केवल यही तो पूछा है न, पार्थ?**
किन्तु यह समय,

सम्बन्धों और नातों की स्थापना या
पहचान का नहीं है, ... पार्थ!!
हे पार्थ!
अपने कर्त्तव्य को पहचानो
और तब निर्णय लो
क्योंकि निर्णय तो तुम्हीं को लेना पड़ेगा।
यदि तुम यह चाहते हो —
कि निर्णय मैं लूं
और तुम इस युद्ध के उत्तरदायित्व से
बच जाओ,
तो यह नहीं होगा, पार्थ!!
नहीं होगा!!
कदापि नहीं होगा पार्थ!!!
क्योंकि यह युद्ध भी तुम्हारा है और इस
युद्ध का परिणाम भी तुम्हारा ही होगा।

इतना कहकर श्रीकृष्ण, अर्जुन की तरफ मुड़कर उसका निर्णय सुनने की प्रतीक्षा करने लगे ..... कुछ रुककर अर्जुन ने बड़े दीन भाव से श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया।

अर्जुन : **मुझे कर्त्तव्य का मार्ग ठीक से दिखाई**
नहीं दे रहा है, केशव!

इसलिए हे वासुदेव!
आप मेरी आत्मा के भी सारथी बन जाइये
हे अच्युत!
मैं धर्म और अधर्म के बीच में खड़ा हूं;
किन्तु यह निर्णय नहीं ले पा रहा हूं
कि धर्म किस ओर है
और अधर्म किस ओर?
मेरा मार्ग-दर्शन कीजिए, केशव!!
इन्द्रियों के शैथिल्य और शोक से बचने का मार्ग दिखलाइये मुझे।
अपनी इस मानसिक अवस्था में मैं युद्ध नहीं कर सकता!
मैं इस योग्य नहीं रहा, केशव!!
इस योग्य नहीं रहा!!!
मैं युद्ध नहीं कर सकता .....!
मैं युद्ध नहीं कर सकता .....!!
मैं युद्ध नहीं कर सकता .....!!!

इतना कहकर परन्तप अर्जुन गाण्डीव को छोड़कर रथ में बैठ गया। अर्जुन के ऐसा करने पर श्रीकृष्ण मुस्कराने लगे और हास्यमयी मुद्रा में अर्जुन से यों बोले —

श्रीकृष्ण : **हे पार्थ!**
जो चले गए ..... वो तो चले गए।
और ज्ञानी न तो जाने वाले का शोक करते हैं
और न उनका,
जो नहीं गए।
वे न तो विगत (बीता दिन) के लिए शोक करते हैं
और न अगत (आने वाला दिन) के लिए।
तुम्हारी शैली तो ज्ञानियों ही की है;
लेकिन बात तुम मूर्खों जैसी कर रहे हो
शोक करने से पहले यह तो देखो —
कि तुम जिनके लिए शोक कर रहे हो
वे तो शोक के योग्य हैं ही नहीं।

अर्जुन : **तो क्या पितामह और गुरु द्रोण शोक के योग्य नहीं हैं, केशव?**

श्रीकृष्ण : **यदि वे शोक के योग्य होते,**
तो मैं यह कहता ही क्यों, पार्थ!!
तुम इस तथ्य को समझ लो, पार्थ!

कि मूल-तत्त्व शरीर नहीं,
आत्मा है
और मृत्यु 'इसकी' यात्रा का अंत भी
नहीं है
क्योंकि 'उसकी' यात्रा तो अनन्त है
मृत्यु तो केवल एक पड़ाव है!!
श्वास का अन्त पवन का अन्त नहीं है
यह समझ लो, पार्थ!
कि प्राणी तो पहले बालक होता है,
फिर वह बालक युवा हो जाता है,
फिर वह युवा, वृद्ध होता है और फिर
.....मृत्यु!
किन्तु यह यात्रा तो शरीर की है
आत्मा तो इससे भी आगे जाती है
वह एक शरीर को त्याग कर कोई और
शरीर धारण कर लेती है।
इसलिए जो यात्रा मृत्यु पर समाप्त हो
जाए —
वह तो केवल शरीर की यात्रा है, पार्थ!
केवल शरीर की यात्रा है!!
आत्मा की यात्रा तो अनन्त है, पार्थ!!!
यात्रा के एक बिन्दु पर शरीर तो पीछे
छूट जाता है—

और यात्री आगे निकल जाता है
और वह बिल्कुल वैसा ही है .....
जैसे कोई नया शरीर पहन लेता है .....
जैसे हम पुराना वस्त्र उतारकर,
नया वस्त्र पहन लेते हैं।
हे पार्थ! विनाश तो आत्मा को छू भी
नहीं सकता।
फिर शोक कैसा?
किसके विनाश का??
किन्तु वस्त्र तो अमर नहीं होता ।
वह तो त्यागे जाने के लिए ही होता है
और आत्मा मरती नहीं,
कभी नहीं मरती।

अर्जुन : **किन्तु हे केशव! ये जो सामने खड़े हैं,**
ये सब इस युद्ध के पश्चात होंगे न,
केशव?
सब के सब होंगे न??

अर्जुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण हंस पड़े, फिर बोले —

श्रीकृष्ण : **यह होना-न-होना क्या है, पार्थ?**
क्योंकि वह समय तो कभी था ही नहीं,
जब 'मैं' नहीं था;

‘तुम’ नहीं थे;
या ये सारे लोग नहीं थे
और ना ही वह समय कभी होगा,
जब ‘मैं’ नहीं हूंगा;
या तुम नहीं होगे;
या ये सारे लोग नहीं होंगे
तब, हे अर्जुन! किस भ्रम में पड़े हो
तुम,
कि वर्तमान जीवन ही सम्पूर्ण जीवन
है??
वर्तमान जीवन सम्पूर्ण जीवन नहीं है,
पार्थ!!
हम थे भी;
हम हैं भी;
और हम होंगे भी।
अब रहा - सुख-दुःख;
तो इनका क्या?
यह तो ऋतुओं की भांति आते-जाते रहते
हैं।
कुन्ती-पुत्र!
जो दुःख और सुख दोनों को ही समान
समझे;
और उनसे प्रभावित हुए बिना ही उन्हें

झेल जाए —
वह ही 'स्थितप्रज्ञ' है
और वह ही मोक्ष का अधिकारी है
हे भारत!
मारने और मरने की आशंका से मुक्त
हो जाओ
क्योंकि मृत्यु तो —
केवल उसी की हो सकती है,
जिसने जन्म लिया हो
आत्मा तो 'कालातीत' है;
काल से भी परे है, पार्थ!
जन्म तो शरीर का होता है;
आत्मा का नहीं;
और यदि आत्मा जब जन्म ही नहीं लेती
तो उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है?
आत्मा तो बस ..... 'है' ..... पार्थ! वह
तो 'है'!!
वह काल के दोनों तटों पर भी है .....
और काल की धारा में भी।
वह अजन्मा है;
नित्य है;
सनातन है;
अविकारी है;

अविनाशी है।
इसलिए मारने और मरने के प्रश्नों को
लेकर चिंतित
होना व्यर्थ है, पार्थ!
मृत्यु तो केवल शरीर की होती है
और उसकी मृत्यु के पश्चात् भी —
आत्मा नहीं मरती;
क्योंकि शस्त्र उसे काट नहीं सकता;
अग्नि उसे जला नहीं सकती;
जल उसे भिगा नहीं सकता
और —
वायु उसे सुखा नहीं सकती।
अब किस चिन्ता में हो ..... पार्थ!

अर्जुन : **हे जनार्दन!**
क्या मैं केवल एक आत्मा को पितामह
कहता हूं?
मैं अपने धूल में सने वस्त्रों को पहने
एक आत्मा की गोद में घुस जाया करता
था?
जो श्वेत वस्त्र वाले वृद्ध योद्धा सामने
एक रथ पर खड़े हैं,
क्या वे केवल एक आत्मा हैं?

क्या वे, जिनको आप केवल एक शरीर
कह रहे हैं, उन्होंने अनेक बार क्या मेरे
सिर पर आशीर्वाद देने के लिए हाथ
नहीं धरा था?
क्या आचार्य व पितामह श्रेष्ठ, एक
आत्मा हैं?
जिन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखाई है, केशव!
मैं आत्मा के नित्य होने को नहीं मना
करता,
लेकिन जिन शरीरों की मैं बात कर रहा
हूं वे शरीर भी तो मेरे कुछ लगते हैं,
न?
आत्मा तो जन्म नहीं लेती, केशव!
किन्तु लोग तो जन्म लेते हैं, केशव!!
लोग तो जन्म लेते हैं!!!

श्रीकृष्ण : हाँ, लोग जन्म तो अवश्य लेते हैं पार्थ!
किन्तु इस तर्क को तनिक आगे बढ़ाओ
न, पार्थ!
तनिक आगे बढ़ाओ!!
जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित
है;
तो निश्चित का शोक क्यों?

जन्म लेने वाले को एक न एक दिन तो मरना ही है; और यह मृत्यु भी अन्त नहीं है?

क्योंकि —

मरने वाला फिर जन्म भी लेगा।

यह तो एक अटल सत्य है पार्थ!

और —

इस अटल सत्य को कोई टाल भी नहीं सकता;

न मैं;

न तुम;

न कोई और।

गंगा-पुत्र भीष्म के पास तो इच्छा-मृत्यु का वरदान है, किन्तु —

मृत्यु तो फिर भी अटल है न पार्थ?

तो फिर .....

जन्म, मृत्यु और फिर जन्म की इस श्रृंखला में

शोक का स्थान कहाँ है, पार्थ!

कहाँ है शोक का स्थान?

जिन लोगों को तुम सामने खड़ा देख रहे हो न, पार्थ!

वे —

इस जन्म से पहले भी थे,
पर क्या थे?
यह तुम नहीं जानते,
वे इस जन्म के उपरान्त भी होंगे,
पर क्या होंगे, यह भी तुम नहीं जानते।
उनका अस्तित्व तो इस जन्म और मरण
के
दो बिन्दुओं के इधर या उधर है ही नहीं;
और यदि है भी तो अव्यक्त है
अर्थात् —
इस जन्म के पूर्व भी वे तुम्हारे लिए नहीं
थे, पार्थ! और इस जन्म के उपरान्त भी
नहीं होंगे!!
तो हे पार्थ!
जिनके जीवन का अनिवार्य अंत ही मृत्यु
हो और —
उनके जीवन के इस अनिवार्य अंत को
न तुम टाल सकते हो; और न ही बदल
सकते हो;
तो फिर शोक काहे का?
और शोक क्यों?
यह पितामह, यह गुरुजन और यह सगे-
सम्बन्धी;

उनमें से किसी को भी तुम इस जन्म के
पूर्व नहीं जानते थे;
और न ही पार्थ!
तुम इस जन्म के उपरान्त जानोगे
अतः इनके लिए शोक करना तो व्यर्थ
होगा न, पार्थ? व्यर्थ होगा!!!
हे पार्थ!
इसमें आश्चर्य की क्या बात है?
जैसे फटना —
वस्त्र का अन्तिम सत्य ठहरा है,
वैसे ही —
मृत्यु शरीर का अन्तिम सत्य है।
तो फिर — सत्य का शोक क्यों?
मनुष्य — शरीर और आत्मा,
नश्वर और अनश्वर का मिश्रण नहीं है।
शरीर तो केवल आत्मा का एक साधन
है
इसलिए शरीर की चिन्ता में पड़े बिना ही
—
अपने धर्म का पालन करते रहना चाहिए,
पार्थ!
किन्तु —
यदि तुम अपने क्षत्रिय धर्म के बारे में

श्रीकृष्ण : **और ?**

अर्जुन : **और ..... मैं क्षत्रिय हूं, केशव!**

श्रीकृष्ण : **यदि तुम क्षत्रिय नहीं रहते पार्थ! तो**
द्रोण-शिष्य भी न होते और
हे कौन्तेय!
कुन्ती-पुत्र होने के नाते भी तो तुम
क्षत्रिय ही हो;
तो तुम्हारी तीनों ही पहचानें
- क्षत्रिय पहचानें हैं।
इसलिए क्षत्रिय-धर्म ही तुम्हारा धर्म है;
उस धर्म का पालन करो अधर्म के
विरुद्ध अस्त्र उठाना ही क्षत्रिय धर्म है
और —
यदि इस निर्णायक घड़ी में,
तुमने सत्य के पक्ष में,
और असत्य के विरोध में अस्त्र नहीं
उठाए, पार्थ!
तो तुम्हारे धर्म के साथ-साथ
तुम्हारी उज्जवल कीर्ति भी नष्ट हो
जावेगी।
और यदि ऐसा हुआ, पार्थ

सोच रहे हो, पार्थ!
तब भी तुम्हें युद्ध ही करना चाहिए,
क्योंकि अधर्म के विरुद्ध शस्त्र उठाना
ही, क्षत्रिय धर्म है;
और —
आज अधर्म, धर्म के विरुद्ध शस्त्र उठाए
सामने खड़ा है।
इसलिए हे पार्थ!
अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करो।

अर्जुन : **हे केशव! आपसे यही पूछने को तो मैं आपको यहाँ लाया हूं; कि मेरा कर्त्तव्य क्या है?**
मेरा धर्म क्या है ..... केशव?

श्रीकृष्ण : **और स्वयं तुम कौन हो पार्थ?**

अर्जुन : **मैं द्रोण-शिष्य अर्जुन हूं।**

श्रीकृष्ण : **क्या इसके अतिरिक्त तुम और कुछ नहीं हो?**

अर्जुन : **मैं कुन्ती-पुत्र अर्जुन हूं।**

तो केवल तुम्हारे विरोधी ही नहीं;
बल्कि सम्पूर्ण समाज-
तुम्हें कलंकित का-पुरुष कहेगा;
और आने वाली पीढ़ियाँ -
तुम्हें कायर और पापी मानेंगी।
इसलिए हे महाबाहो!
विजय और पराजय;
जीवन और मृत्यु;
सुख और दुःख के प्रश्नों में न उलझो;
और युद्ध करो ।
यदि इस युद्ध में तुम्हारी विजय हुई,
तो पृथ्वी का राज्य और यश भोगोगे;
और यदि वीरगति को प्राप्त हुए तब भी-
यश के साथ-साथ स्वर्ग पाओगे,
इसलिए हे कौन्तेय! उठो!!
सुख-दुःख;
लाभ-हानि;
जय-पराजय, सबको समान समझो
और युद्ध करो!!
यही तुम्हारा क्षत्रिय कर्त्तव्य भी है
और — मानव धर्म भी!

आत्मा तो मरती नहीं, मर जाती है देह।
मन में तुम रखो नहीं, दुविधा या संदेह।।

अर्जुन : **मेरे हाथ-पैर तो अभी भी युद्ध की ओर नहीं बढ़ रहे हैं, केशव!**
मेरी समझ में तो अभी भी यह नहीं आ रहा है कि इस युद्ध से लाभ क्या होगा?

अर्जुन की यह बात सुनकर मधुसूदन हँस पड़े -

श्रीकृष्ण : **लाभ-हानि; ये दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं धनञ्जय!!**
मैं जानता हूं —
कि तुम्हें पृथ्वी के भोग और स्वर्ग की कामना नहीं है; इसलिए हे कौन्तेय!
सुख-दुःख; लाभ-हानि; जय-पराजय से ऊपर उठो, पार्थ!!
इतना सुनने के उपरान्त अर्जुन फिर बोले —

अर्जुन : **मुझसे तो अब भी नहीं उठा जा रहा, केशव!**
इस पर श्रीकृष्ण ने लम्बी सांस ली और फिर बोले —

श्रीकृष्ण : **हे अर्जुन! अभी तक तो मैं तुम्हें ज्ञान और विवेक की दृष्टि से समझा रहा था, जो जीवन के आर-पार देख सकती है और सत्य की गहराई में झांक कर उसकी अन्तर आत्मा की सार समझ लेती है;**
किन्तु कदाचित् तुम उसकी अमूर्त्तता में उलझ गए।
व्यवहारिक तुला में जरा इस क्षण को तोल कर देखो, पार्थ!
व्यवहारिक कार्य की दृष्टि से -
अपने कर्त्तव्य के विषय में निर्णय लो;
तब भी -
तुम इस निर्णय पर पहुंचोगे,
कि तुम्हारा इस युद्ध में भाग लेना आवश्यक है।

अर्जुन : **यही निर्णय तो मैं नहीं ले पा रहा हूं, केशव!**
नहीं ले पा रहा हूं!!

श्रीकृष्ण : **तुम यह निर्णय केवल इसलिए नहीं ले पा रहे हो, पार्थ!**

कि तुम इस क्षण को केवल —
व्यक्तिगत लाभ और व्यक्तिगत हानि की
तुला में तोल रहे हो;
यही तो मोह का बंधन है, पार्थ!
यही तो तुम्हारे शोक की जड़ है!!
और इसीलिए —
तुम्हारी यह कायरता,
पलायन और कलंक में डुबाने वाला
शोक,
न तुम्हारे हित में है;
और न समाज के हित में।
यह शोक —
न वर्तमान के लिए शुभ है, न ही
भविष्य के लिए ।
लाभ और हानि की —
इस कामना में न भटको, पार्थ!
न भटको!!
केवल कर्म करो, पार्थ!
कर्म!!
कर्म तो अपने आप में ही पुण्य है,
पवित्र है;
और समाज के लिए कल्याणकारी भी

है;
कर्म तो स्वयं ही अपना फल भी है,
पार्थ!
परन्तु –
यदि तुम समाज कल्याण के कार्य में
स्वयं अपना हित मिला लोगे, पार्थ!
तो तुम्हारा वह कर्म —
अशुभ और अशुद्ध हो जाएगा;
इसलिए हे पार्थ!
''निष्काम कर्म'' के मार्ग पर चलो!
क्योंकि
कर्म-फल तो तुम्हारे वश में है ही नहीं!
इसलिए केवल कर्म करो;
और कर्म-फल की इच्छा न करो!

अर्जुन : **किन्तु ''निष्काम-कर्म'' कैसे संभव है**
वासुदेव?
फल की आशा ही तो कर्म करवाती है;
और यदि दृष्टि फल से ही हट जाए
तो कोई कर्म करेगा ही क्यों?

श्रीकृष्ण : **कोई कर्म इसलिए करेगा, पार्थ!**

कि कर्म के बिना तो जीवन संभव ही
नहीं है;
कुछ तो करोगे ही —
या भोजन करोगे; या नहीं करोगे,
या भूखे को भोजन करवाओगे, या नहीं
करवाओगे
या युद्ध करोगे, या नहीं करोगे;
तुम्हारे पास तो केवल यही विकल्प है
—
कि तुम क्या करो, या क्या न करो;
परन्तु परिणाम तुम्हारे वश में नहीं है,
पार्थ!
कर्मफल तुम्हारे वश में नहीं है!!
तुम्हारे अधिकार की सीमा इस विकल्प
पर समाप्त हो जाती है —
कि तुम युद्ध करोगे,
या नहीं करोगे;
किन्तु - युद्ध का परिणाम तुम्हारे हाथ में
नहीं है!
यदि तुम विजय चाहो भी —
तो यह आवश्यक नहीं कि विजय तुम्हारी
ही हो जाए,

तुम्हारी पराजय भी हो सकती है;
किन्तु यदि तुम विजय से मोहित नहीं होगे
तो पराजय से भी नहीं घबराओगे;
यदि तुम यह समझो, पार्थ!
कि चाहे विजय हो चाहे पराजय;
किन्तु तुम तो केवल इसलिए युद्ध कर रहे हो
कि युद्ध करना तुम्हारा कर्त्तव्य है,
तो विजय के सुख का;
या पराजय के दुःख का प्रश्न ही नहीं उठता;
और —
जो न विजय से सुखी हो,
और न पराजय से दुःखी,
वह ही 'स्थितप्रज्ञ' है।
इसलिए हे पार्थ!
कर्म के प्रतिफल की चेष्टा न करो;
तुम तो केवल वह ही करो,
जो तुम्हारे वश में है;
अर्थात् —
अपने धर्म का पालन करो —

यह ही 'कर्मयोग' है पार्थ!
यह ही 'कर्मयोग' है!!
इस रहस्य को समझो, पार्थ!
कि तुम्हारे पास तो केवल करने,
या न करने का विकल्प है;
किन्तु कर्म के अन्त पर —
मनुष्य के अधिकारों की सीमा समाप्त हो जाती है;
कर्म का परिणाम मनुष्य के वश में नहीं है;
तुम सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो,
किन्तु —
यदि तुम्हारा आखेट इधर से उधर हो जाए,
तो तुम चूक जाओगे;
तुम्हारा अधिकार तुम्हारी दृष्टि पर है;
परन्तु उस मृग पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं,
जिसकी ओर तुम बाण चला रहे हो!
हे धनञ्जय!
सत्पुरुष कभी अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन नहीं करते
अर्थात्

अपने कर्म में स्थिर रहो पार्थ!
स्थिर रहो!!
क्योंकि 'कर्म की कुशलता' का ही नाम
योग है।

अर्जुन : और योग क्या है, केशव?

श्रीकृष्ण : वही तो बता रहा हूं पार्थ!
योग कर्म का कौशल है;
मोह का त्याग कर्म का कौशल है;
अपने कर्त्तव्य का पालन करना कर्म का
कौशल है; सफलता या असफलता दोनों
ही में —
समान रहना कर्म का कौशल है!

अर्जुन : हे केशव! 'मुनि' या 'स्थितप्रज्ञ' की
पहचान क्या है?
वह चलता-फिरता कैसे है?
वह उठता बैठता कैसे है?
उसकी बोलने की शैली कैसी है,
केशव?

श्रीकृष्ण : उसकी पहचान में तो कठिनाई नहीं है,

पार्थ?
उसकी भाँति तुम अपनी कामनाऐं त्याग
दो!
अपनी व्यक्तिगत अभिलाषाओं से मुक्त हो
जाओ;
सुख-दुःख के परे होकर —
अपने स्वयं में सन्तुष्ट हो जाओ!
तो न दुःख की अग्नि तुम्हें जला सकेगी!
और न सुख की वर्षा तुम्हें भिगा
सकेगी!!
हे पार्थ!
स्थितप्रज्ञ वह मुनि है —
जो दुःख और सुख दोनों ही में,
समान भाव रखता है;
और कोई उसका यह सन्तुलन तोड़ ही न
हीं सकता । जब उसके शब्द बाहर
निकलते हैं,
तो मन में तैरते दुःख और सुख से बाहर
नहीं निकलते;
बल्कि आत्मा की अथाह गहराईयों से
बाहर निकलते हैं,
वह मोह की भाषा नहीं बोलता,
वह निष्काम-कर्म की भाषा बोलता है;

वह जब बैठता है —
तो कछुवे की भाँति अपने भीतर
सिमटकर बैठता है;
और अपने 'स्वयं' ही को देव बना लेता
है;
अर्थात् —
उसकी इन्द्रियां उसके वश में होती हैं
और अपनी इन्द्रियों को —
वही अपने वश में कर सकता है,
जिसका अपना मन अपने वश में हो,
हे पार्थ! सामान्य पुरुष को विषयों का
ध्यान आसक्त बना देता है;
उसी आसक्ति या लगाव से 'काम' का
जन्म होता है;
जब काम की पूर्ति नहीं होती, तो
'क्रोध' उत्पन्न होता है;
जब क्रोध उत्पन्न होता है,
तो विषयों के प्रति 'मोह' और बढ़ जाता
है, पार्थ!
और — जब मोह और बढ़ जाता है,
पार्थ!
तो सोचने की शक्ति भटक जाती है,
जब सोचने की शक्ति भटक जाती है,

तो बुद्धि का नाश होता है;
जब बुद्धि का नाश होता है,
तो मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है
और ..... हे कुन्ती पुत्र!
तुम्हारा यह मोह तुम्हें बुद्धि के विनाश
की ओर ले जा रहा है।
तनिक सोचो पार्थ!
जिसके पास बुद्धि ही न होगी,
उसे शांति कैसे मिल सकती है?
वह तो शांति और अशांति में —
अन्तर ही नहीं कर सकता है;
और जो शांति को अशांति से अलग
तक नहीं कर सकता;
वह भला कैसे सुखी हो सकता है!
हे पार्थ!
जैसे पवन के झोंके नाव को भटका देते
हैं,
वैसे ही कामनाएं बुद्धि को भटका देती
हैं
इसलिए हे महाबाहो!
अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रक्खो;
स्वयं भोग के वश में न हो जाओ,
पार्थ!

यह बात ध्यान से सुनो और समझो —
कि जब संसार सोता है, तब मुनि
जागता है;
और जब संसार जागता है, तब मुनि
सोता है।

अर्जुन : **यह सोना-जागना क्या है केशव? ये**
रात-दिन कैसे हैं?

श्रीकृष्ण : **रात और दिन की तो मैंने बात ही नहीं**
की थी, पार्थ! मैंने तो केवल सोने और
जागने के विषय में बात की थी;
सामान्य पुरुष की जाग —
हर क्षण कुछ पाने और भोगने में व्यतीत
होती है;
यही उसकी चेतना का लक्ष्य है
यदि उसे भूख लगे, तो उसे भोजन
चाहिए;
यदि उसे प्यास लगे, तो उसे जल
चाहिए;
यदि उसे ऋतुओं से अपना बचाव करना
है, तो घर चाहिए;
उसकी सोच वस्तुनिष्ठ है

परन्तु मुनि अर्थात् स्थितप्रज्ञ की सोच —
आत्मनिष्ठ है
वह व्यक्तिगत भूख और व्यक्तिगत तृष्णा
के परे देखता है;
वह वृक्ष से गिरे हुए फलों के विषय में
नहीं सोचता, वह वृक्ष के विषय में
सोचता है, वनों के विषय में सोचता है
सामान्य मनुष्य को - ईंधन के लिए
लकड़ी चाहिए,
तो वह वृक्षों को तब तक काटता चला
जाएगा,
जब तक वन नष्ट न हो जायें;
परन्तु मुनि —
प्रकृति और वनों के महत्त्व के विषय में
सोचता है; प्रकृति के सन्तुलन के विषय
में सोचता है;
वनों और ऋतुओं के सम्बन्ध के विषय
में ..... सोचता है।
इसलिए हे पार्थ!
जो सामान्य-पुरुष की इन्द्रियों के लिए
दिन है,
वह मुनि के लिए रात है,
क्योंकि वह तो इन्द्रियों की सीमा को

पार कर चुका है;
और जो सामान्य-पुरुष की इन्द्रियों के
लिए रात है,
वह मुनि के लिए दिन है,
क्योंकि उसी सन्नाटे में —
मुनि की चेतना का सूर्योदय होता है
मुनि की रुचि —
सामने की समस्याओं के साथ-साथ —
उन समस्याओं के समाधान में भी है;
और यही उसे सामान्य पुरुष से अलग
करती है, पार्थ!
हे पार्थ! 'सत्य' इन्द्रियों की पहुंच के
बाहर है
ऐसा नहीं, कि मुनि को भूख नहीं
लगती है;
परन्तु वह अपनी भूख के परे देखता है;
और यह सोचता है —
कि भूख का उपचार क्या है?
इसीलिए —
सामान्य पुरुष का दिन मुनि के लिए
रात है;
और जो सामान्य मनुष्य की इस रात से
अपने को बचा ले,

वह स्थितप्रज्ञ है।
सामान्य-मनुष्य तो —
उन नदियों की भाँति है,
जिन्हें व्याकुलता बहा ले जाती है;
परन्तु उन्हें अपने मार्ग का ज्ञान नहीं
होता;
वह तो अंधाधुंध बही जाती हैं;
क्योंकि वह केवल बहने ही को अपना
कर्म समझती हैं;
और वह अपना सारा जल,
अपनी सारी उथल-पुथल,
सागर में उडेल देती हैं;
किन्तु सागर —
फिर भी अपने तटों की मर्यादा का
उल्लंघन नहीं करता;
उसी प्रकार,
कामनाओं की नदियां —
सामान्य-मनुष्य को तो बहा ले जाती हैं,
परन्तु जब वह मुनि तक आती हैं,
तो मुनि उन्हें समेट लेता है,
और अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं
करता।
हे पार्थ!

तुम भी सागर बनो;
सागर मुनि है,
सागर ज्ञानी है;
तुम भी ज्ञानी बनो, पार्थ!
क्योंकि ज्ञान ही उत्तम है .....

अर्जुन : **हे हृषीकेश! हे योगेश्वर! हे ज्ञानमूर्ति!**
यदि ज्ञान कर्म से उत्तम है,
तो आप मुझे इस लहू-लुहान कर्म में
क्यों लगा रहे हैं? केशव!
आप मुझे इस लहू-लुहान कर्म में क्यों
लगा रहे हैं?
हे केशव! आपने तो मुझे उलझा दिया।
यदि, ज्ञान कर्म से उत्तम है,
तो फिर मैं यह भयानक कर्म करूं क्यों,
केशव?
क्यों न मुनि बनकर मौन समाधि में
चला जाऊँ?
मैं कल्याण का मार्ग पूछ रहा हूं, केशव!
कृपया मुझे मार्ग दिखाइये, केशव!
मुझे मार्ग दिखाइये!!

श्रीकृष्ण : **हे निष्पाप अर्जुन!**
संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं —

‘अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी’
जो अन्तर्मुखी होते हैं,
वे स्वयं के भीतर जाकर ईश्वर को देखते हैं,
यही ‘ज्ञान-योग’ है
और जो बहिर्मुखी होते हैं,
वे स्वयं से बाहर निकलकर,
उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं;
किन्तु कर्म से छुटकारा नहीं,
क्योंकि स्वयं भीतर जाकर उसे खोजना भी तो कर्म ही है।
हे कुन्ती पुत्र!
मार्ग तो यही दो हैं
एक ‘ज्ञानयोग’ का, और दूसरा
‘कर्मयोग’ का।

अर्जुन : **हे केशव! तो फिर मैं ज्ञानयोग के ही मार्ग पर क्यों न चलूं?**

अर्जुन का यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण हंस पड़े और फिर बोले —

श्रीकृष्ण : **किन्तु हे पार्थ! ज्ञानयोग भी कर्म के त्यागने का मार्ग नहीं है;**
सिद्धि का मार्ग नहीं है,

क्योंकि कर्म के बिना तो जीवन संभव
ही नहीं है,
आँखें हैं — तो वे अवश्य देखेंगी;
पलकें हैं — तो वे अवश्य झपकेंगी;
कान हैं — तो वे अवश्य सुनेंगे;
जो कर्मेन्द्रियों के आड़े आए,
जो उन्हें बलपूर्वक रोककर,
उनका दमन करके,
विषयों का चिन्तन करे,
वह योगी नहीं;
वह ज्ञानी नहीं;
वह तो मिथ्याचारी है।
शुद्ध पुरुष, इन्द्रियों को अपने वश में
करता है,
उनका दमन नहीं करता, पार्थ!
वह आँखें बन्द करके नहीं जीता;
कर्म बिना तो शरीर की यात्रा संभव ही
नहीं;
व्यक्ति सांस तो लेगा ही न, पार्थ!
यदि वातावरण में कोई सुगन्ध या दुर्गन्ध
है
तो वह उसका अनुभव करने के लिए भी
विवश है;

यदि उसके आस-पास कोई नाद है,
कोई ध्वनि है; कोई कोलाहल है;
तो उसे सुनने के लिए उसके कान —
उसके आदेश की प्रतीक्षा तो नहीं करेंगे,
न?
इसलिए —
जो अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित रखे;
जो उन पर अपनी चेतना का अंकुश
लगाकर उन्हें कर्मोन्मुक्त करे,
उन्हें कर्म की दिशा दिखाए, वही श्रेष्ठ है।
वह अपने विकल्पों को समझता है, पार्थ!
और अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग
करता है; और हे पार्थ!
अपने नियत कर्म करना, कुछ न करने
से अच्छा है;
और यह भी ठीक है पार्थ!
कि आँखें देखती हैं;
किन्तु वे क्या देखें और क्या न देखें?
इसका निर्णय तो ज्ञानी स्वयं ही लेता है।
वह आँखों को देखने की,
कानों को सुनने की,
और पांवों को चलने की खुली छूट नहीं
देता।

विकल्प के इस मोड़ पर —
ज्ञानी और अज्ञानी के अन्तर का भेद
खुलता है, पार्थ!
इसलिए कर्म तो आवश्यक है,
क्योंकि उसके बिना तो शरीर का
निर्वाह, संभव ही नहीं;
किन्तु हे पार्थ!
ज्ञानी पुरुष की भाँति कर्म करो!
ज्ञानी पुरुष की भाँति!!
हे कौन्तेय!
कर्म ऐसे करो, जैसे 'यज्ञ' किया जाता
है!
क्योंकि कर्म ही 'यज्ञ' है,
और इसका स्त्रोत स्वयं अविनाशी ब्रह्मा
हैं।
और इसलिए —
जो व्यक्ति सृष्टि-चक्र चलाने में योगदान
नहीं करता, उसका जीवन मूल्य-हीन हो
जाता है!
तुम उस मूल्य-हीनता की ओर न जाओ,
पार्थ!
तुम उस मूल्य-हीनता की ओर न जाओ!!
जो व्यक्ति —

केवल अपनी समस्याओं के विषय में
सोचता है,
वह तो पापी है!
इसलिए —
तुम इस मोह-जाल से निकलकर
अपने कर्त्तव्यों को पहचानो, पार्थ!
और उनका पालन करो!!
हे पार्थ! कर्मफल की इच्छा ही मार्ग में
बाधा है;
कर्मफल की इच्छा ही तो,
व्यक्ति के गले में बंधा हुआ वह पत्थर
है,
जो उसे स्वयं की तपन से ऊपर उठने ही
नहीं देता;
यही तो व्यक्ति को समाज से काट देता
है और उसे व्यक्तिगत-लाभ,
और व्यक्तिगत-हानि के दल-दल में
ढकेल देता है समाज तुम में नहीं है,
पार्थ!
तुम समाज में हो!
इसलिए 'लोक-संग्रह' और 'लोक-
कल्याण' ही को —
अपना परम कर्त्तव्य मानो;

क्योंकि जो समाज के लिए कल्याणकारी होगा,
वही तुम्हारे लिए भी कल्याणकारी होगा!
जो कर्म लोक-संग्रह के लिए होगा,
पार्थ!
उसी के द्वारा तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी।
व्यक्तिगत-लाभ से तो पाप की गली निकलती है,
क्योंकि वह तो स्वार्थ-सिद्धि के लिए,
व्यक्ति को भटका देता है!
और हे पार्थ!
यह भी न भूलो कि तुम एक महान पुरुष हो!
और लोग तुम्हें दृष्टान्त मानकर तुम्हारे पीछे-पीछे काम और स्वार्थ के मार्ग पर चल पड़ेंगे,
क्योंकि एक श्रेष्ठ-व्यक्ति का आचरण तो दूसरों के लिए दृष्टान्त बन ही जाता है!
मुझ ही को लो!
त्रिलोक में मेरे लिए कुछ कर्म करना आवश्यक नहीं, पार्थ!
और त्रिलोक में ऐसा भी कुछ नहीं,
जिसे मैं प्राप्त करना चाहूँ और प्राप्त न

कर सकूं।
फिर भी - मैं तुम्हारे सामने हूँ;
कर्म कर रहा हूँ, पार्थ!
कर्म कर रहा हूँ!!
यह दिखला रहा हूँ;
यह सिद्ध कर रहा हूँ
कि निष्काम-कर्म के मार्ग पर चलते हुए
जीवन व्यतीत करना संभव है!
हे भारत! कर्म तो अज्ञानी भी करते हैं,
परन्तु केवल अपने निहित-स्वार्थ की दृष्टि
से;
ज्ञानी का कर्म तो निःस्वार्थ होता है;
संसार के संतुलन को स्थिर बनाए रखने
के लिए होता है;
लोक-कल्याण के लिए होता है;
इसलिए हे पार्थ!
अपने मन पर कोई बोझ न लो;
अपना कर्म मुझे अर्पण कर दो;
और यह धर्म-युद्ध करो!
कर्त्तव्य-पालन के मार्ग पर तो, मृत्यु भी
कल्याणकारी हो जाती है!
यदि पितामह, गुरुजनों और सगे-
सम्बन्धियों का,

तुम्हें वध भी करना पड़े,
तब भी तुम्हें पाप नहीं लगेगा!
क्योंकि कर्त्तव्य-पालन पाप रहित होता है!!
यदि वे वीरगति को प्राप्त हुए,
तो उनकी मृत्यु भी कल्याणकारी हो जाएगी,
और यदि तुम वीरगति को प्राप्त हुए तो तुम्हारी मृत्यु भी!
इसलिए हे पार्थ! युद्ध करो!
क्योंकि धर्म का मार्ग, पाप का मार्ग नहीं हो सकता!!

अर्जुन : पाप की बात निकल ही आई है तो यह बतलाइये, केशव!
कि कभी-कभी मनुष्य पाप करने के लिए इतना विवश क्यों हो जाता है?
उसे कौन विवश करता है?

श्रीकृष्ण : उसे विवश करती है — उसकी वासना
उसे विवश करता है — उसका निहित स्वार्थ;
उससे पाप करवाता है - उसका क्रोध,

उसका मोह;
इन शत्रुओं को पहचानो, पार्थ!
जैसे — धुंआ अग्नि को ढक देता है;
या धूल, दर्पण को;
या झिल्ली गर्भ को;
वैसे ही ज्ञान को ढक देते हैं – काम,
मोह और वासना
काम और मोह की अग्नि ज्ञान को नष्ट
कर देती है;
और इसीलिए यह ज्ञान की बैरी हैं!
हे कौन्तेय! अग्नि को स्वच्छ बनाओ;
दर्पण को परिशुद्ध करो;
और अपनी इन्द्रियों को सौम्य बनाकर,
ज्ञान और विवेक के इन नाशकों का
वध करो;
हे पार्थ! जड़ पदार्थ से इन्द्रियां श्रेष्ठ हैं;
और इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, मन;
मन से श्रेष्ठतर है, बुद्धि;
और बुद्धि से श्रेष्ठ है आत्मा;
तुम आत्मा की चिन्ता करो, पार्थ!
आत्मा की चिन्ता करो!
और देह, इन्द्रियों, मन और बुद्धि से
ऊपर उठने का प्रयत्न करो!

हे पार्थ! तुम तो मेरे भक्त भी हो!
और मेरे मित्र भी!
इसलिए मैं तुम्हें वह योग बताने जा रहा हूँ जो बहुत समय से लुप्त है;
परन्तु सृष्टि के आरम्भ में,
इसे मैंने ही सूर्य को दिया था;
और सूर्य से यह मनु को मिला;
और मनु से इक्ष्वाकु तक पहुंचा!

अर्जुन ने आश्चर्य पूर्वक श्रीकृष्ण से पूछा —

अर्जुन : **सूर्य को दिया था?**
आपने, यह योग सूर्य को दिया था?
परन्तु हे केशव!
आपने आधुनिक काल में जन्म लिया है
और सूर्यदेव प्राचीन हैं,
तो मैं यह कैसे मान लूं,
कि सृष्टि के आरम्भ में ही —
आपने यह योग सूर्यदेव को दिया होगा?
बोलिए, केशव?

श्रीकृष्ण : **हाँ पार्थ! मेरे और तुम्हारे बहुत से जन्म**

हो चुके हैं;
मुझे वे सारे जन्म याद हैं;
हे परन्तप! वैसे तो मैं अजन्मा हूँ,
अविनाशी हूं;
और समस्त प्राणियों का स्वामी हूँ;
परन्तु मैं अपनी प्रकृति को आधीन करके,
अपनी ही योग-माया से प्रकट होता रहता हूँ!

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्यः तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।

हाँ पार्थ! मैं प्रकट होता हूँ,
मैं आता हूँ;
जब-जब धर्म की हानि होती है;
तब-तब मैं आता हूँ;
सज्जन लोगों की रक्षा के लिए मैं आता हूँ;
दुष्टों का विनाश करने के लिए मैं आता

हूँ;
धर्म की स्थापना के लिए मैं आता हूँ;
युग-युग में जन्म लेता हूँ!
इतना सुनकर अर्जुन बड़े विस्मय से बोले —

अर्जुन : **किन्तु, हे केशव! धर्म की हानि होती ही क्यों है?**

श्रीकृष्ण : **धर्म की हानि इसलिए होती है, पार्थ!**
कि मनुष्य मोह के बन्धनों को तोड़ नहीं पाता,
वह स्वयं से नाता तोड़कर समाज से नाता नहीं जोड़ पाता!
हे पार्थ! यदि ऐसा न हुआ होता;
तो लाक्षागृह दुर्घटना न हुई होती;
द्रौपदी का वस्त्र-हरण न हुआ होता;
और कौरवों और पाण्डवों की सेनाऐं —
यूं आज एक-दूसरे के सामने न खड़ी होतीं!

अर्जुन : **तो क्या द्रौपदी वस्त्र-हरण पर मुझे क्रोध नहीं आना चाहिए था, केशव?**

श्रीकृष्ण : **यह निर्णय तो स्वयं तुम्हें लेना है, पार्थ!**
किन्तु द्रौपदी वस्त्र हरण,
केवल तुम्हारी व्यक्तिगत समस्या नहीं है,
पार्थ!
जो समाज —
इन्द्रप्रस्थ की पटरानी,
महाराज द्रुपद की पुत्री,
और महान पाण्डवों की पत्नी
द्रौपदी के वस्त्र-हरण पर - चुप रह
गया;
वह समाज —
भला किसी साधारण नारी के मान-
सम्मान की क्या रक्षा करेगा?
द्रौपदी वस्त्र-हरण एक सामाजिक समस्या
है, पार्थ!
एक सामाजिक समस्या है!!
और यह तुम्हारा कर्त्तव्य है —
कि तुम उन शक्तियों को नष्ट करने के
लिए युद्ध करो,
जो किसी द्रौपदी का वस्त्र-हरण कर
सकती हैं!
ये शक्तियां समाज की शत्रु हैं, पार्थ!
और जो महापुरुष इस युद्ध में,

उन शक्तियों के पक्ष में हैं,
उनके पक्ष में युद्ध करने आए हैं;
उनसे युद्ध करने में भी संकोच न करो!
अपने व्यक्तिगत क्रोध और व्यक्तिगत-
मोह के बन्धनों से मुक्त होकर लोक-
कल्याण के लिए युद्ध करो,
पार्थ!
यही तुम्हारा परम कर्त्तव्य है!!
मुझे देखो, पार्थ!
इस समाज और उसके वर्णों को —
गुणों और कर्मों के आधार पर,
स्वयं मैंने रच तो दिया;
परन्तु इस समाज-रचना का फल —
मैंने कभी नहीं चाहा;
इसीलिए — कर्त्ता होते हुए भी,
मैं अकर्त्ता हूँ;
और जो इस रहस्य को समझे, पार्थ!
वह कभी अपने कर्मों में लिप्त नहीं
होगा!!
मुझे कर्मफल की इच्छा नहीं है;
तभी तो कर्म मुझे दूषित नहीं कर पाते;
तुम भी निष्काम-कर्म करो, पार्थ!
और अपने कर्म पर —

अपने 'निहित स्वार्थ' की छाया न पड़ने दो
हे भारत!
कर्म, अकर्म और विकर्म के अन्तर को समझो!

अर्जुन : **और 'कर्म', 'अकर्म' और 'विकर्म' में क्या अन्तर है, केशव?**

श्रीकृष्ण ने समझाते हुए इस प्रकार कहा —

श्रीकृष्ण : **कर्म तो कर्म है ही;**
किन्तु जो कर्म —
कर्मफल की आशा से मुक्त होकर किया जाए,
वह 'अकर्म' है;
और जो कर्म व्यक्ति या समाज के हित में न हो,
वह 'विकर्म' है, निषिद्ध है,
कर्म करना, कर्म न करने से श्रेष्ठ है,
कर्त्ता, अकर्त्ता से श्रेष्ठ है;
और .... पार्थ! जो कर्त्ता, कर्मफल

की इच्छा से मुक्त है, वह ज्ञानी है;
वही बुद्धिमान है!
और वही कर्मयोगी है!!
उसके लिए उसका कर्म ही, कर्मफल भी है;
और इसीलिए —
वह एक कर्म के पालन के उपरान्त,
कर्मफल की प्रतीक्षा में नहीं ठहरता;
बल्कि दूसरे कर्म की ओर बढ़ जाता है
उसके ज्ञान की अग्नि —
मोह, क्रोध, द्वेष, आकांक्षा, लाभ, हानि,
सुख और दुःख के मैल को जलाकर
उसके कर्म को शुद्ध कर देती है;
और उसका कर्म,
अकर्म बन जाता है,
और वह कर्त्ता से अकर्त्ता,
और यह अकर्त्ता, यह ज्ञानी, जीवन के
आवश्यक साधन जुटाने के अतिरिक्त,
अपने लिए और कुछ नहीं करता;
उसके शेष कर्म समाज कल्याण के लिए होते हैं;
यह मनुष्य कर्म करते हुए भी,
पाप से दूषित नहीं होता;

उसका जीवन तो स्वयं ही समाज के
लिए कल्याणकारी हो जाता है!
हे निष्पाप अर्जुन!
ऐसे ही व्यक्ति का जीवन 'यज्ञ' है;
तुम भी अपने जीवन को यज्ञ बना लो;
और उसके हवन-कुण्ड में,
अपने कर्मफल की इच्छा, मोह और
क्रोध को,
आहुतियों की भांति जला डालो!!

अर्जुन : **और ..... 'यज्ञ' क्या है, केशव?**

श्रीकृष्ण : **अलग-अलग लोग यज्ञ की परिभाषाऐं
भी अलग-अलग करते हैं, पार्थ!
कुछ लोगों के लिए यज्ञ, ब्रह्म का
स्वरूप है;
उनके लिए सब कुछ ब्रह्म है;
लोग देवताओं को प्रसन्न करने के लिए
यज्ञ करते हैं,
तो उनके लिए पूजन, यज्ञ है;
कुछ साधक आत्मा को परमात्मा से
मिलाने की साधना को यज्ञ कहते हैं;
इन्हीं यज्ञों की भांति —**

उनमें दी जाने वाली आहुतियां भी,
अलग-अलग प्रकार की हैं;
कोई धन की आहुति देता है,
तो कोई कर्म की;
किन्तु वास्तव में यज्ञ चार प्रकार के होते हैं —
पहला 'द्रव्य-यज्ञ' है;
इसमें अर्जित धन और द्रव्य को,
समाज-कल्याण के कार्यों में लगाया जाता है;
अर्थात् वह लोक-सेवा-यज्ञ है
दूसरा 'तपोयज्ञ' है;
जब कोई अपने कर्म को —
अपनी तपस्या बना लेता है,
तो उसका जीवन तपोयज्ञ बन जाता है!
हे पार्थ! अपने धर्म का पालन भी यज्ञ है!
किन्तु यह धर्म साम्प्रदायिक नहीं,
सनातन है;
यह व्यक्ति और समाज,
दोनों ही के लिए कल्याणकारी है।
तीसरा यज्ञ, 'योग-यज्ञ' है;
इसमें अष्टांग योग की साधना की जाती

है,
और इसमें लोग ध्यान और समाधि का
मार्ग प्रशस्त करते हैं;
प्रारम्भ में, प्राणों को हवन किया जाता
है!
चौथा यज्ञ है - 'ज्ञान-यज्ञ';
यूं तो पार्थ! चारों ही यज्ञ महत्त्वपूर्ण हैं;
परन्तु श्रेष्ठतम है 'ज्ञान-यज्ञ'
क्योंकि ज्ञान ही तो अच्छे और बुरे में,
अन्तर करता है;
और अग्नि में तपाकर, कर्म को शुद्ध
करता है और शुभ बनाता है;
ज्ञान ही तो कर्म के उत्कर्ष का, चरम-
बिन्दु है;
और ज्ञान ही तो तुम्हें मोह बन्धनों से
मुक्त कराएगा, पार्थ!
हे पार्थ! पाप के सागर को —
केवल ज्ञान की नौका ही पार कर
सकती है!!
तो तुम भी ज्ञान की नौका में बैठकर,
पाप के सागर को पार कर जाओ, पार्थ!
यह समझ लो, पार्थ!
कि जैसे अग्नि - सब कुछ जलाकर

भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान की
अग्नि —
कर्म-फल की इच्छा,
फल की प्राप्ति न होने पर आने वाले
क्रोध,
और उस क्रोध के सहारे आगे बढ़ने वाले
मोह को, जलाकर भस्म कर देती है।
हे पार्थ! इस मंत्र को सदैव याद रखो,
कि संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने
वाली,
न ही कोई वस्तु है;
और न ही कोई तत्त्व;
ज्ञान ही सर्वोत्तम है!!
जो अज्ञानी हैं,
जिनमें श्रद्धाभाव नहीं है,
जो बात-बात पर शंका करते हैं,
संशय-युक्त हैं,
वे तो नष्ट हो ही जाते हैं;
और उन्हें न इस लोक में सुख मिलता है
और न ही परलोक में।
इसलिए हे भारत! संशय को त्यागो,
और तुम्हारे भीतर जो मुनि बैठा है उसे
जगाओ

ज्ञान - योगी बनो पार्थ!
ज्ञान - योगी बनो!!
और समझ लो कि ज्ञान की चरम सीमा
ही 'कर्म-सन्यास' है!

अर्जुन : **आप 'कर्म-सन्यास' और 'कर्मयोग' दोनों**
की प्रशंसा कैसे कर सकते हैं, केशव?

अर्जुन का यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण हंस पड़े और उन्होंने उसका समाधान इस प्रकार किया —

श्रीकृष्ण : **ये दोनों एक दूसरे को काटते नहीं, बंधु!**
और कल्याणकारी तो ..... ये दोनों ही हैं;
किन्तु ..... इन दोनों में श्रेष्ठ कर्मयोग है!!

अर्जुन : **किन्तु ..... क्यों और ..... कैसे?**

श्रीकृष्ण : **जो द्वेष और आकांक्षा से ऊपर उठकर**
कर्म करता है —
वह तो 'नित्य-सन्यासी' है;
और वह द्वन्दों से रहित होकर —
सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

इसलिए जो कर्म–सन्यास को कर्म–योग
से अलग समझता है —
वह तो मूर्ख है ही;
ज्ञानी ऐसा कभी नहीं समझते।
कर्म–त्याग तो वास्तव में,
निहित–स्वार्थ के त्याग का नाम है, पार्थ!
इसलिए - कर्मयोग के बिना —
कर्म–सन्यास की प्राप्ति हो ही नहीं
सकती।
कर्मयोगी को — तत्त्वों का ज्ञान होता
है;
और उसका — देखना न देखना,
सुनना न सुनना,
चाहना न चाहना,
जागना न जागना,
लेना न लेना,
छोड़ना न छोड़ना,
और उसका हर कर्म, लोक–कल्याण के
लिए होता है;
और इसीलिए —
वह पाप से बिल्कुल वैसे ही अलग रहता
है,
जैसे — कमल, जल में रहकर भी,

जल से अलग रहता है।
हे धनञ्जय! कर्मयोगी - कर्मफल को
त्यागकर, परम-शक्ति को प्राप्त होता है;
और नौ द्वारों वाले, इस शरीर रूपी घर
में, सुखी रहता है।
मनुष्य के भ्रमित होने का कारण - यह
है, पार्थ!
कि उसका अज्ञान,
उसके ज्ञान को ढक लेता है;
और जब —
आत्म-ज्ञान, अज्ञान को नष्ट कर देता है,
तो ज्ञान, उस परम तत्त्व को —
सूर्य की भांति प्रकाशित कर देता है;
और ज्ञानी इस नश्वर जीवन ही में —
परम 'सत्य' को प्राप्त कर लेते हैं;
उन्हें — जन्म पर जन्म नहीं लेना पड़ता;
वह इसी नश्वर जीवन में —
मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।
तो हे पार्थ! यह नश्वर जीवन बहुत ही
महत्त्वपूर्ण है!
क्योंकि — इसके उपरान्त,
तुम्हारा अपनत्व अवश्य होगा;
किन्तु — 'तुम' नहीं होगे!!

तो इस नश्वर जीवन-काल को —
अर्थपूर्ण, और समाज के लिए
कल्याणकारी बनाओ, पार्थ!!
ज्ञान 'प्रकाश' है,
तो इस प्रकाश को प्राप्त करो;
और यदि तुमने ऐसा कर लिया —
तो इन राहों में भटकने से बच जाओगे,
जिनमें आज भटक रहे हो;
और यदि भटकने से बच जाओगे, पार्थ!
तो तुम्हें शान्ति मिलेगी!!
हे धनञ्जय! शान्ति का सीधा मार्ग .....
'मैं' हूं,
जो मुझे — हर यज्ञ का लक्ष्य,
हर लोक का स्वामी,
और हर प्राणी का हितैषी मानते हैं,
वही शान्ति पाते हैं!
यदि तुम मुझे अपना हितैषी समझते हो,
पार्थ!
तो मेरा कहा मानो और ..... युद्ध करो!
क्योंकि — यह युद्ध किए बिना,
तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती!!
अपने धर्म से भागने का मार्ग,
शान्ति की प्राप्ति का मार्ग नहीं है, पार्थ!!

यह युद्ध तुम्हारा धर्म है!
तो अपने इस धर्म का पालन करो,
पार्थ!
और उसके परिणामों के विषय में न
सोचो।
कौन मरेगा और कौन जियेगा,
यह तुम्हारी समस्या नहीं है!
हे पाण्डव! लोग जिसे सन्यास कहते हैं,
उसे तुम योग मानो और संशय, द्वेष और
आकांक्षा से
मुक्त होकर — युद्ध करो!!
क्योंकि — इन्हें त्यागे बिना तो,
कोई योगी हो ही नहीं सकता!
मनुष्य का यह कर्त्तव्य है —
कि वह अपना पतन न होने दे;
और स्वयं ही अपना उद्धार करे!
मनुष्य — स्वयं ही अपना मित्र भी है;
और अपना शत्रु भी!
जिसने अपने 'अहं' अपने मन, और
इन्द्रियों को,
अपने वश में कर लिया हो
वह स्वयं ही अपना 'मित्र' है
और जो इनके वश में हो गया हो, पार्थ!

वह स्वयं ही अपना 'शत्रु' है!!
जो शीतकाल और ग्रीष्मकाल,
सुख और दुःख,
मान और अपमान में शान्त रहे;
और सन्तुलन रखे,
वह जितेन्द्रिय पुरुष, सदैव परमात्मा में
लीन रहता है!!
किन्तु हे पार्थ!
बहुत खाने वाले, या बिल्कुल ही न
खाने वाले;
अधिक सोने वाले या बिल्कुल ही न
सोने वाले को यह योग सिद्ध नहीं होता;
जीवन संतुलन का नाम है, पार्थ!
और संतुलित ढंग से जीने वाले मनुष्य
का योग,
उसके दुःखों को हर लेता है!
जैसे — वायु रहित स्थान पर,
दीपक की ज्योति निश्चल रहती है;
वैसे ही — मोह रहित योगी भी निश्चल
रहता है!
चंचल मन को मनमानी न करने दो,
पार्थ!
उसे रोको!!

और उसे अपनी आत्मा के आधीन
बनाओ!
तुम्हारी उलझनों का यही उपचार है!!
मेरी ओर देखो, पार्थ! मेरी ओर देखो!!
जिसे हर दिशा और हर वस्तु में,
केवल 'मैं' ही दिखाई दूँ वह तो कभी
भटक ही नहीं सकता;
जो मुझे नहीं भूलता, पार्थ!
मैं भी उसे नहीं भूलता!!
वह तो सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए
भी,
संसार से अलग और मेरे भीतर रहता है।
हे अर्जुन! जो योगी —
सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख
माने,
वही 'परम श्रेष्ठ' है!

अर्जुन : **किन्तु ..... योग-मार्ग पर चलते-चलते मन**
भटक तो सकता है?

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की शंका का समाधान
इस प्रकार किया —

श्रीकृष्ण : **भटक क्यों नहीं सकता! अवश्य भटक**

सकता है!!

अर्जुन : केशव! तो फिर ब्रह्म की प्राप्ति के मार्ग में इस भटकन का परिणाम क्या होता है? भटक जाने वाला बादल की भाँति छिन्न-भिन्न होकर कहीं नष्ट तो नहीं हो जाता, केशव?

श्रीकृष्ण : वह चाहे - लोक हो या परलोक,
कल्याण का यह शुभ कार्य करने वालों की दुर्गति तो हो ही नहीं सकती।
हे कुन्ती पुत्र! मुझमें मन लगाओ!
मुझ पर निर्भर होकर योग करो!
तुम्हें मेरा संशय रहित पूर्ण ज्ञान मिल जाएगा!
हे धनञ्जय! सबसे बड़ा 'सत्य' तो .....
'मैं' ही हूँ!
'मैं' ही वह धागा हूँ!
सूर्य और चन्द्रमा में प्रकाश 'मैं' हूँ!
वेदों में ओंकार 'मैं' हूँ!
आकाश में शब्द भी 'मैं' हूँ!
'मैं' ही प्रकृति में पवित्र सुगन्ध हूँ!
'मैं' ही अग्नि में तेज हूँ!
प्राणियों में जीवन-शक्ति 'मैं' हूँ!

तपस्वियों का तेज 'मैं' हूँ!
बलवानों में काम-रहित बल भी 'मैं' ही
हूँ!
और प्राणियों में धर्म के विरुद्ध न जाने
वाला काम भी 'मैं' ही हूँ!
'मैं' सब में हूँ, पार्थ!
किन्तु सबसे अलग भी हूँ!
'मैं' अविनाशी हूँ!
'मैं' निर्गुण हूँ!
हे पार्थ! 'मैं' बीते हुए सारे कालों,
इस बीते हुए आधुनिक काल और
आने वाले सारे कालों के सारे प्राणियों
को जानता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं
जानता!
'मैं' ही जगत का पिता भी हूँ,
माता भी और पोषक भी!
'मैं' ही ऋग्वेद हूँ!
और 'मैं' ही सामवेद;
'मैं' ही स्वामी हूँ!
और 'मैं' ही सेवक!
'मैं' ही सृजन हूँ!
और 'मैं' ही विलोपन!
'मैं' ही सबका आधार हूँ पार्थ!

‘मैं’ ही सब कुछ हूँ! सब कुछ!!
ग्रीष्म भी ‘मैं’ और वर्षा भी ‘मैं’!
और हे पार्थ!
‘मैं’ ही संसार का अविनाशी बीज भी हूँ!
‘मैं’ सबके लिए एक जैसा हूँ!
न कोई मुझे प्रिय है!
और न ही अप्रिय!
परन्तु जो मुझे श्रद्धा से पूजते हैं, मित्र!
वे मुझमें हैं और ‘मैं’ उनमें!

अर्जुन : हे कृष्ण! आप पारब्रह्म हैं!
परम शोधक हैं!
आप शाश्वत हैं!
तीव्र तत्त्वज्ञ हैं!
आप ईश्वर हैं!
आप अजन्मा हैं!
हे गिरधर! केवल आप ही को आपका ज्ञान है!
तो हे योगेश्वर! हे ज्ञानमूर्ति! मैं आपको जानूं कैसे? आपको पहचानूं कैसे??
कृपया विस्तार से मुझे बताइये, माधव!
कृपया विस्तार से मुझे बताइये!!

श्रीकृष्ण : **हे कुरुश्रेष्ठ! मेरे विस्तार का तो कोई**
अन्त ही नहीं है! फिर भी सुनो
'मैं' प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा
हूँ!
हे गुडाकेश!
'मैं' ही आरम्भ हूँ,
मध्य भी,
और अन्तिम का अन्तिम छोर भी;
'मैं' आदित्यों में विष्णु हूँ!
मरुतों में मरीचि!
ज्योतियों में सूर्य!
और नक्षत्रों में चन्द्र हूँ!
'मैं' वेदों में सामवेद हूँ!
देवों में इन्द्र हूँ!
इन्द्रियों में मन हूँ!
और प्राणियों में चेतना हूँ!
'मैं' रुद्रों में शंकर हूँ!
यक्षों और राक्षसों में कुबेर हूँ!
वसुओं में अग्नि हूँ!
और पर्वतों में सुमेरु हूँ!
पुरोहितों में 'मैं' बृहस्पति हूँ!
सेनापतियों में कार्तिकेय!
और जलाशयों में महासागर!

महर्षियों में 'मैं' भृगु हूँ!
वाणी में 'ओंकार'!
यज्ञों में जप-यज्ञ;
और स्थावरों में हिमालय हूँ!
'मैं' वृक्षों में पीपल हूँ!
और देवर्षियों में नारद हूँ!
'मैं' गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ!
और सिद्धों में कपिल मुनि!
हे महारथी! मैं अश्वों में अमृत से उत्पन्न
होने वाला उच्चैःश्रवा हूँ!
'मैं' गजों में ऐरावत हूँ!
और मनुष्यों में नरपति!
'मैं' शस्त्रों में वज्र!
धेनुओं में कामधेनु!
प्रजा उत्पन्न करने वालों में कामदेव!
और नागों में शेषनाग हूँ!
'मैं' दैत्यों में प्रहलाद हूँ!
ग्रसने वालों में काल हूँ!
वनचरों में सिंह हूँ!
और पक्षियों में विष्णु-वाहन गरुड़ हूँ!
और हे धनुर्धर!
'मैं' शस्त्रधारियों में राम हूँ!
अक्षरों में अकार हूँ!

‘मैं’ कभी न समाप्त होने वाला समय हूँ!
‘मैं’ चहुंमुखी सृष्टा हूँ, पार्थ!
‘मैं’ ही मृत्यु हूँ, पार्थ!
और ‘मैं’ ही उन सबका आरम्भ हूँ!
जो आने वाले काल में जन्म लेने वाले हैं
और अभी तक जिनके आरम्भ का
आरम्भ ही नहीं हुआ है!
‘मैं’ स्त्रियों में कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति,
मेधा, धृति और क्षमा हूँ!
‘मैं’ ऋतुओं में ऋतुराज हूँ!
और तेजस्वियों का तेज हूँ!
‘मैं’ गुण हूँ!
‘मैं’ विजय हूँ!
‘मैं’ प्रयत्न हूँ!
‘मैं’ यादवों में वासुदेव हूँ!
और पाण्डवों में अर्जुन!
‘मैं’ मुनियों में व्यास हूँ!
और कवियों में शुक्राचार्य!
‘मैं’ ही तो उत्पत्ति का बीज हूँ, पार्थ!
वो चाहे चर हो चाहे अचर,
मेरे बिना तो हो ही नहीं सकता!
‘मैं’ प्राणों का प्राण हूँ!

और जीवों का जीवन हूँ!

अब अर्जुन की जिज्ञासा शांत हुई और
उसने संतोष के साथ श्रीकृष्ण से कहा —

अर्जुन : **हे कमलनयन! मेरी आँखें खुल चुकी हैं!**
दुविधा और आशंका के बादल छंट चुके हैं!
आपने जो कहा वह ही सत्य है;
और उसके अतिरिक्त कोई सत्य नहीं!
किन्तु ..... हे परमेश्वर!
मैं आपके ईश्वरीय-रूप के दर्शन करना चाहता हूँ!

श्रीकृष्ण : **हे निष्पाप अर्जुन!**
अपनी इन आंखों से तुम मेरा वह स्वरूप नहीं देख सकते!
इसके लिए तुम्हें दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होगी!

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-दृष्टि प्रदान की। तदुपरान्त भगवान श्रीकृष्ण ने अपना विश्व-रूप अर्जुन को दिखलाया। विश्व-रूप

देखकर अर्जुन बड़ा हर्षित और भयभीत दोनों हुआ! और उसने श्रीकृष्ण से इस प्रकार अनुनय प्रार्थना की–

अर्जुन : **हे नाथ! पहले न देखे हुए,**
आपके इस विराट स्वरूप के दर्शन से मैं हर्षित हो रहा हूँ! किन्तु ..... मेरा चित्त भय से व्याकुल हो रहा है!
इसलिए हे देवेश! हे जगद्निवास! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने उसी दिव्य मनुज-रूप को फिर से प्रकट कीजिए! क्षमा! प्रभु क्षमा!!
हे विश्वमूर्ति! हे अनन्त! हे नारायण!
हे दयासागर!
जैसे - मित्र मित्र को,
पिता पुत्र को,
और भगवान अपने भक्त को क्षमा करते हैं, प्रभु!
वैसे ही आप मुझे क्षमा कीजिए!
प्रभु! आप मुझे क्षमा कीजिए!!

तदुपरान्त श्रीकृष्ण ने गुडाकेश अर्जुन को समझाया —

श्रीकृष्ण : **हे कुन्तीनन्दन!**

मित्र और मित्र,
पिता और पुत्र,
भगवान और भक्त के बीच —
क्षमा का तो स्थान ही नहीं है!
इन सम्बन्धों का आधार है -
स्नेह, श्रद्धा और भक्ति!
जो मेरा भक्त है,
जो मुझ ही में लीन रहता है,
और जो पूर्ण श्रद्धा के साथ,
मेरी उपासना करता है वही उत्तम योगी
है!
इसलिए हे पार्थ! मेरी भक्ति श्रेष्ठ है!
जो भक्त हैं, वे ही संसार में नहीं
उलझते;
क्योंकि -
हे पार्थ! यह संसार तो मानो पीपल का
वृक्ष है!
जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं,
और शाखाऐं नीचे की ओर;
वेद इसी वृक्ष के पत्ते हैं!
जो यह जानता है,
वह यह समझो, पार्थ! कि वेदों का अर्थ
भी जानता है!

इस वृक्ष की शाखाऐं -
ऊपर, नीचे सब ओर फैली हुई हैं,
जिसका परिपोषण किया है,
प्रकृति के तीन गुणों ने — सतोगुण,
रजोगुण और तमोगुण!
इसकी जड़ें मानव-समाज में बहुत गहराई
तक फैली हुई हैं!
इस वृक्ष के वास्तविक रूप की अनुभूति
इस संसार में संभव नहीं है, पार्थ!
क्योंकि यह तो कोई देख ही नहीं सकता
कि इस वृक्ष का आदि, अन्त और
आधार क्या और कहाँ है?
किन्तु — मनुष्य इस संसार रूपी वृक्ष
को,
वैराग्य की कुल्हाड़ी से काटकर,
उस 'परम-पद' को प्राप्त कर सकता है
जहाँ पहुँचकर उसे फिर लौटना नहीं
पड़ता!
और हे पार्थ!
वैराग्य, 'निहित स्वार्थ' के त्याग का नाम
है।
इसलिए सोचना हो तो केवल
मेरे विषय में सोचो!

पूजना हो तो केवल —
मुझे पूजो!
अपने आप को मुझे अर्पण कर दो।
हे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर! मेरी शरण में आ
जाओ!
'मैं' तुम्हें पाप-रहित कर दूंगा!!
मुझ ही में मन लगाओ, पार्थ!
मेरे भक्त हो जाओ!
और मुझे नमस्कार करो!
यदि तुम ऐसा करोगे —
तो 'मैं' प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सम्पूर्ण
रूप से मुझे
प्राप्त कर लोगे!
सारे धर्मों को त्यागो, पार्थ!
और मेरी शरण में आ जाओ!
'मैं' तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा!
इसलिए शोक न करो धनञ्जय!
शोक न करो!!
हे प्रिय! हे भक्त !!
'मैं' ही कर्म, योग, भक्ति और ज्ञान का
चरम-बिन्दु और परम-लक्ष्य हूँ!
इसलिए योगी की भाँति —
निष्काम कर्म करो!

चिन्ता न करो, पार्थ!
चिन्ता न करो!!
मुझमें विश्वास रखो!!!
हे महाबाहो! अपना गाण्डीव उठाओ और युद्ध करो!!

यह सुनकर अर्जुन ने अपना गाण्डीव उठा लिया और युद्ध के लिए तत्पर हो गया!

बिना पुरुषार्थ के कुछ सिद्ध नहीं होता। यह कहना कि जो दैव (विधाता) करेगा वह होगा — बड़ी ही मूर्खता है। पुरुषार्थ का मुख्य नाम पुरुष-प्रयत्न है, और पुरुष-प्रयत्न वह है जो सत्संग और सत्‌शास्त्रों के आदेशानुसार किया जाता है .....

— महर्षि वशिष्ठ

कोई कार्य केवल विचार करने से ही नहीं
बल्कि परिश्रम करने से होता है।

जिसे अकेले भी अपने लक्ष्य–पथ पर चलने की
हिम्मत है, वही सच्चा बहादुर है।

तुम हँसोगे तो दुनियां हँस पड़ेगी
किन्तु रोते समय तुम्हें अकेले ही रोना पड़ेगा।

कामयाबी का मंत्र है —
खुली आँखे, बन्द मुंह

मिलहिं संत वचन दुई कहिये।
मिलहिं असंत मौन होय रहिये।

— संत कबीर

आत्मा को अनेक नामों से कहा जाता है —
ईश्वर, गुरु, मंत्र (एवं) कुण्डलिनी आदि आदि .....

— महर्षि रमण

सन्मार्ग के पथिक को दूसरों की बुराईयां नहीं देखनी चाहियें। उसका बड़ा अहित होगा .....

— परमहंस श्री रामकृष्ण देव

पूरी जिद चाहिए, साधना तभी होती है।
दृढ़ प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। साधना के बल
से सदा ईश्वर पर मन रखा जा सकता है।

— परमहंस श्री रामकृष्णदेव

जो जितना निःस्वार्थ है, वह उसी मात्रा में
आध्यात्मिक है एवं सन्मार्ग का पथिक है .....

— स्वामी विवेकानन्द

धर्म का प्रचार और जागृति अपने जीवन को पवित्र
करने से होती है।

— श्री सत्‌गुरुदेव मंगतराम जी

चेतना है तो चेत लै,
निशदिन में प्राणी॥
छिन-छिन औध बिहात है,
फूटे घट ज्यों पानी॥

हरि गुण काहे न गावहीं,
मूरख अज्ञाना॥
झूठे लालच लागि कै,
नहिं मरन पछाना॥

अजहूं कछु बिगरियो नहीं,
जो प्रभु गुण गावै॥
कह नानक तेह भजन ते,
निर्भय पद पावै॥

– (वाणी) श्री गुरु तेगबहादुर जी महाराज